लेख

1

शिक्षा और अभिभावकों का दायित्व

पवन सिन्हा*

अकसर ऐसा देखने में आता है कि ज़्यादातर लोग बच्चों की शिक्षा को स्कूल के साथ जोड़कर देखने के इतने आदी हो गए हैं कि उससे आगे उन्हें कुछ सूझता ही नहीं है। इसमें दोष केवल उस व्यक्ति का नहीं है, जिसे कुछ सूझता नहीं है, बल्कि उस चिंतन, उस सोच का भी है जो समाज में व्याप्त हो चुकी है, हो रही है और अपनी गहरी पैठ बना रही है। समाज के सदस्यों से उपजा चिंतन समाज के सदस्यों पर ही अपना दबाव बनाता है और हमारे समस्त चिंतन, कार्यों आदि को नियंत्रित करता है। इसके साथ यह भी समझना ज़रूरी है कि शिक्षा और *स्कूलिंग* में अंतर होता है और बच्चे की शिक्षा का दायित्व केवल स्कूल और स्कूली प्रशासन का ही नहीं, बल्कि माता-पिता एवं अभिभावकों का भी है। वे अपने इस दायित्व का निर्वहन कैसे करें—यह एक महत्वपूर्ण सवाल है। यह लेख इसी महत्वपूर्ण सवाल के संभावित जवाबों को प्रस्तुत करने का एक प्रयास है।

प्रायः ऐसा माना जाता है कि शिक्षा का संबंध बच्चों से है, क्योंकि शिक्षा है ही उन्हीं के लिए। शिक्षा का अधिकार भी तो 6 से 14 वर्ष तक के बच्चों के लिए ही है। एक स्तर पर यह बात सही भी नज़र आती है, लेकिन यदि गहराई से विचार करें तो यह समझ में आता है कि शिक्षा का संबंध केवल बच्चों से ही नहीं है, बल्कि शिक्षा का संबंध बच्चों के माता-पिता यानी अभिभावाकों से भी है, शिक्षकों से भी है, विद्यालयी व्यवस्था से और शिक्षा नीति-निर्माताओं से भी है। इसका अर्थ यह है कि बच्चों की शिक्षा का दायित्व हम सभी का साझा दायित्व है और हम सभी के द्वारा इस दायित्व की पूर्ति करना बेहद ज़रूरी है। हम अकसर शिक्षकों और विद्यालय के दायित्वों की चर्चा तो करते रहते हैं, लेकिन अभिभावकों के दायित्व की 'खुली बहस' को अंजाम नहीं दे पाते। शायद हमें लगता है कि शिक्षा तो विद्यालय से जुड़ी है, जब बच्चे विद्यालय जाकर शिक्षा ग्रहण करते हैं, तो 'सारी ज़िम्मेदारी' विद्यालय की बनती है। यहाँ एक बात स्पष्ट कर देना उचित रहेगा कि 'शिक्षा' और '*स्कूलिंग*' में अंतर होता है। शिक्षा एक वृहद् संकल्पना है और *स्कूलिंग* एक संकीर्ण संकल्पना है। शिक्षा और *स्कूलिंग* को एक-दूसरे का पर्याय समझने और मानने की भूल नहीं की जानी चाहिए। शिक्षा का प्रारंभ तो घर से ही हो जाता है जब आप बच्चों की सही परवरिश करते हैं। आप स्वयं ही सोचकर देखिए कि बच्चा कितने साल की उम्र में स्कूल जाना शुरू

* *एसोसिएट प्रोफ़ेसर*, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

करता है? आप कहेंगे — आजकल तो बच्चे 3–4 की उम्र से ही स्कूल जाने लगते हैं। सामान्यतः बच्चा 6 की उम्र में तो स्कूल जाएगा ही (जैसा कि मौलिक अधिकार का प्रावधान है और अगर सभी स्थितियाँ सामान्य रहती हैं)। अगर बच्चा 6 साल की उम्र में स्कूल जाना शुरू करता है तो क्या इससे पहले उसके पास कोई शिक्षा नहीं है? जीने का कोई सलीका नहीं है? सही और गलत में फ़र्क करने की कोई क्षमता नहीं है? क्या उसकी ज़िंदगी 'रुक' सी जाती है? नहीं ना तो फिर यह तय है कि बच्चे स्कूल जाने से पहले भी शिक्षा प्राप्त कर रहे होते हैं, शिक्षित हो रहे होते हैं। उम्र के इस पड़ाव पर उनके शिक्षक होते हैं — माता-पिता, परिवार, पड़ोस, दोस्त, समाज… और वे तमाम लोग जो बच्चों से किसी-न-किसी तरह से जुड़े होते हैं या फिर किसी-न-किसी तरह से बच्चों की ज़िंदगी में शामिल रहते हैं। इस लिहाज़ से देखा जाए तो बच्चों के 'शिक्षकों' की एक लंबी फेहरिस्त तैयार हो जाएगी। साठ साल की दादी जिन्हें अब सुई में धागा डालने में दिक्कत होती है, काम-काज में व्यस्त माता-पिता, एक साल की छोटी ननकी जो भूख लगने पर रो-रोकर सारा घर सिर पर उठा लेती है, घर की गली के नुक्कड़ पर खड़ा खोमचे वाला, गली में फेरी लगाने वाले, सब्ज़ी और फल बेचने वाले, कबाड़ी वाला, अखबार बेचने वाला, पड़ोस में रहने वाला नंदु जिसके दादा जी अकसर बीमार रहते हैं, रातभर खाँसते-खाँसते जिनका दम फूल जाता है और पूरा घर उनकी तीमारदारी में लगा रहता है, पानी के कटोरे में चोंच भिगोकर डुबकी लगाने वाली चिड़िया, रातभर 'जागते रहो' की आवाज़ लगाने वाला चौकीदार — ये सब उस बच्चे के शिक्षक ही तो हैं, जिनसे वह बच्चा अपने हिस्से की 'शिक्षा' और अपने हिस्से का 'सबक' सीखता है। वह भी बिना पढ़ाए और सिखाए।

दरअसल ज़्यादातर लोग बच्चों की शिक्षा को स्कूल के साथ जोड़कर देखने के इतने आदी हो गए हैं कि उससे आगे उन्हें कुछ सूझता ही नहीं है। इसमें दोष केवल उस व्यक्ति का नहीं है, जिसे कुछ सूझता नहीं है, बल्कि उस चिंतन, उस सोच का भी है जो समाज में व्याप्त हो चुकी है, हो रही है और अपनी गहरी पैठ बना रही है। समाज के सदस्यों से उपजा चिंतन समाज के सदस्यों पर ही अपना दबाव बनाता है और हमारे समस्त चिंतन, कार्यों आदि को नियंत्रित करता है।

इन सब बातों से इतना तो तय है कि शिक्षा और *स्कूलिंग* में अंतर है और बच्चे की शिक्षा का दायित्व केवल स्कूल और स्कूली प्रशासन का ही नहीं है, बल्कि माता-पिता एवं अभिभावकों का भी है। यह कहना समीचीन होगा कि बच्चों की शिक्षा के संदर्भ में सबसे पहला दायित्व माता-पिता या अभिभावकों का है। आप स्वयं ही सोचकर देखिए, एक बच्चा चौबीस घंटों में से कितना समय अपने घर में अपने परिवार के साथ बिताता है और कितना समय स्कूल में। महज़ 5–6 घंटे ही बच्चा स्कूल में रहता है और बाकी के 18–19 घंटे वह घर में ही रहता है। इस बात को और गहराई से समझने के लिए एक उदाहरण से समझना ज़्यादा बेहतर होगा। मान लीजिए, बच्चे को स्कूल में यह बताया जाता है कि हमें चीज़ों को दूसरों के साथ बाँटना चाहिए, ज़रूरत पड़ने पर दूसरों की मदद करनी चाहिए, अपनी बारी की प्रतीक्षा करनी चाहिए आदि। लेकिन उस बच्चे के माता-पिता उसे

यह ताकीद कराते हैं कि अपनी चीज़ों को किसी को मत देना, अपनी चीज़ों को छुपाकर रखना, अपने काम से काम रखना, दूसरों के 'पचड़ों में मत पड़ना', हर बात में सबसे आगे ही रहना आदि, आदि। अब सोचिए, बच्चा स्कूल में क्या सीखता है और घर में क्या? क्या आपको दोनों की 'सिखाई' में समानता नज़र आती है? नहीं ना अब बच्चे के बारे में भी सोचिए। इस तरह की शिक्षा ने बच्चे को द्वंद्व की स्थिति में डाल दिया। वह क्या करे? शिक्षक की माने या माता-पिता की? माता-पिता ने यह 'सिखावन' बच्चे को बचपन से ही देना शुरू किया होगा और धीरे-धीरे यही 'सिखाई' उसकी ज़िंदगी, उसके व्यक्तित्व, उसकी सोच का हिस्सा बन गई होगी। शिक्षा का अर्थ ही है संतुलित व्यक्तित्व का विकास करना। हर लिहाज़ से वह विकसित हो, जिसे शिक्षा-शास्त्रीय भाषा में कहा जाता है—सर्वांगीण विकास करना। इस तरह यह समझ में आता है कि बच्चों की शिक्षा का दायित्व माता-पिता या अभिभावकों का भी है। आइए, एक-एक करके इस दायित्व के विश्लेषण और निर्वहन पर चर्चा करते हैं।

बच्चों को समझना

बच्चों को ठीक से समझ पाना सबसे कठिन कार्य नज़र आता है। हर उम्र के बच्चों की, हर तरह की ज़रूरतें, पसंद-नापसंद, रुचियाँ, आदर्श, सोचने का तरीका या चिंतन शैली, व्यवहार करने का तरीका या सलीका, चीज़ों, घटनाओं, व्यक्तियों के प्रति नज़रिया और प्रतिक्रियाएँ अलग होती हैं। कई बार ऐसा भी होता है कि अभिभावक यह अनुमान भी नहीं लगा पाते कि उनका बच्चा ऐसा भी सोचता है, ऐसा भी कर सकता है। बच्चों से जुड़ी हर तरह की ज़रूरत हम तभी समझ पाएँगे, जब हम बच्चों के मन को समझ पाएँगे। बच्चों का मन समझने के लिए यह ज़रूरी है कि अभिभावक बच्चों की जगह स्वयं को रखकर देखें, सोचें और फिर अनुमान लगाएँ कि मेरा बच्चा क्या कर सकता है? क्या कह सकता है? क्या सोचता है? उसे किस चीज़ की ज़रूरत है। बतौर अभिभावक हमें यह भी समझना होगा कि बच्चों की ज़रूरतों और व्यवहार को बाह्य कारकों से प्रभावित होने की संभावना से इंकार नहीं किया जा सकता। अनेक बार यह शारीरिक विकास के दौरान होने वाले परिवर्तनों के कारण होता है, तो कभी सामाजिक दबाव के कारण, तो कभी दोनों ही कारणों से। बच्चों के शारीरिक स्वभाव को समझना भी ज़रूरी है। हर उम्र के बच्चे संवेदनशील होते हैं, भले ही वे आपसे, हमसे कुछ कहें या नहीं। वे अपने आस-पास जो भी घटते हुए देखते हैं, उसकी प्रतिक्रिया उनके मन के भीतर होती ज़रूर है। अगर किसी माँ ने अपने बच्चे को बाज़ार में डाँट दिया या एक थप्पड़ लगा दिया, तो यह देखकर कोई भी बच्चा सहम सकता है या फिर रोने ही लग जाएगा। सहमना और रोना—दोनों ही प्रतिक्रियाएँ बच्चों के संवेदनशील होने का प्रमाण हैं। उसकी प्रतिक्रिया ऐसी भी हो सकती है, जैसे वह बच्चा (जिसे डाँट या थप्पड़ पड़ा है) वह स्वयं ही हो। इसका अर्थ है कि बच्चों में तदनुभूति (*एमपैथी*) का भी गुण होता है। यानी दूसरे की जगह स्वयं को रखकर वैसी ही अनुभूति करना। तदनुभूति अपने आप में एक बहुत ही महत्वपूर्ण जीवन कौशल है। बच्चों के मन की 'राह' को ट्रेस कर पाना और बच्चों के मन की 'थाह' पाना—दोनों ही कठिन

कार्य हैं, लेकिन असंभव नहीं। कई बार ऐसा होता है कि बच्चे एक समय जो चीज़ पसंद करते हैं, अगले ही दिन वे उसी चीज़ को नापसंद करने लगते हैं। फिर माता-पिता बच्चे से यह कहने से चूकते नहीं हैं कि 'अभी कल ही तो तुम्हें यह चीज़ बहुत पसंद आई थी, अब क्या हो गया? तुम्हारा तो कुछ पता ही नहीं चलता।' बच्चों पर किसी भी तरह का दबाव बनाना उनके मानसिक विकास के लिए हानिकारक होता है। सोचिए कि अगर कोई किसी काम के लिए आप पर दबाव बनाता है, तो आप कितना परेशान हो जाते हैं और तनाव में आ जाते हैं। बस यही बच्चों के साथ भी होता है।

यदि माता-पिता की दो संतानें हैं और एक बच्चा पढ़ने में एक घंटा लगाता है और दूसरा बच्चा दस मिनट में ही पढ़ाई कर लेता है, तो माता-पिता उस दूसरे बच्चे को देर तक डाँटते हैं— 'तुम उठ कैसे गए?' 'इतनी जल्दी कैसे काम कर लिया?' 'बड़े भाई को देखो, वह भी तो अभी पढ़ रहा है। तुम भी अभी बैठकर पढ़ो।' बच्चे ने 50 मिनट सज़ा में ही काट दिए। किस बात की सज़ा? बच्चे के अंदर किसी बात को जल्दी समझ लेने का गुण है, इस बात के लिए उसके माता-पिता ने 50 मिनट की सज़ा दी। अब वह तनाव में आ गया। उसका मन खिन्न हो गया। अब उसके सामने किताब तो खुली है लेकिन उसका मन बिसूर रहा है, उसका मन कहीं और है। सोचिए, अनमना बच्चा भला कैसे पढ़ पाएगा? अगर किसी दिन बच्चे का मन नहीं है कि वह आपके साथ शाम को सैर पर न जाए तो रहने दीजिए। ज़बरदस्ती ठेलकर ले भी गए तो कोई लाभ नहीं होगा, बल्कि नुकसान और होगा। वापस आने के बाद उसका पढ़ाई या किसी काम में मन नहीं लगेगा। यह देख आप उसे फिर डाँटेंगे कि 'पढ़ाई में मन नहीं लग रहा तुम्हारा आजकल, सब देख रहा हूँ मैं।' मन कैसे लगेगा? मन को पहले ही आपने अशांत कर दिया और अब कहते हैं कि मन लगाकर पढ़ो। कैसे संभव है? बच्चों में एकाग्रता की समस्या पिछले कुछ समय से बढ़ती चली जा रही है। एकाग्रता के बिना कोई बच्चा बेहतर सीख ही नहीं सकता। आज एकाग्रता को समझने की कोशिश करनी है और माता-पिता को इसे समझकर बच्चों के मन पर काम करने की ज़रूरत है। बच्चों के मन को समझने के लिए बच्चों के व्यवहार को गौर से देखने, समझने और विश्लेषण करने के साथ-साथ बच्चों के साथ एक दोस्त की तरह समय बिताना भी बहुत ज़रूरी है।

बच्चों से जुड़ाव

बच्चों को समझने के लिए और उनके मन को समझने के लिए बच्चों के साथ भावात्मक जुड़ाव ज़रूरी है। यह तभी संभव है जब आप बच्चों के साथ समय बिताते हैं। उन्हें यह महसूस कराते हैं कि कोई है जो उनसे बेहद प्यार करता है, कोई है जो उनसे बेहद लगाव रखता है, कोई है जिनके लिए तुम बेहद खास और महत्वपूर्ण हो, कोई है जो तुम्हारी परवाह करता है, कोई है जिसका अस्तित्व तुम्हारे अस्तित्व पर निर्भर करता है। इसका अर्थ यह है कि बच्चों को यह महसूस कराना ज़रूरी है कि वे माता-पिता के लिए कितने महत्वपूर्ण हैं। यही भाव बच्चों और माता-पिता के बीच स्नेह-सूत्र बनता है और इससे बच्चों का माता-पिता के साथ जुड़ाव बनता है। संभवतः अनेक व्यक्ति यह कह सकते हैं कि इसमें ऐसा क्या खास है

कि बच्चों से जुड़ाव होना चाहिए। हर माता-पिता या अभिभावक बच्चों से जुड़े होते ही हैं। लेकिन ऐसा नहीं है। अकसर माता-पिता या अभिभावकों को यह लगता है कि उन्होंने बच्चे की सभी ज़रूरतें पूरी कर दीं, जैसे—उनके भोजन, कपड़े, स्कूल की फ़ीस, खिलौने, जेबखर्च आदि की व्यवस्था कर दी, तो यह जुड़ाव ही तो है। नहीं, परवरिश वित्तपोषण नहीं है। ज़रूरतें पूरा करके माता-पिता ने अपना फ़र्ज़ अदा किया है। बच्चों की भौतिक ज़रूरतों को पूरा करना न तो परवरिश है और न ही भावात्मक जुड़ाव। भावात्मक जुड़ाव में भाव का जुड़ना ज़रूरी है। हो सकता है कि कोई माता-पिता या अभिभावक, आर्थिक रूप से इतने सामर्थ्यवान न हों कि अपने बच्चों की भोजन की ज़रूरतों को भी ठीक से पूरा कर पाते हों या अपने बच्चों को ढंग के दो जोड़ी कपड़े ही दिलवा पाते हों। ऐसी स्थिति में भी यदि माता-पिता बच्चों के साथ अपनी स्थिति को साझा कर पाते हैं, बच्चों को खूब स्नेह दे पाते हैं, अपना तनाव बच्चों पर ज़ाहिर नहीं होने देते या उन्हें कोसते नहीं हैं या फिर बच्चे उनके मनोभावों को समझ पाते हैं और जितना है, उसमें ही संतुष्ट हो जाते हैं तो यह कहा जा सकता है कि यह जुड़ाव है। इसका यह अर्थ भी है कि जुड़ाव भावात्मक है, भौतिक या धन से जुड़ा हुआ नहीं। जिन माता-पिता या अभिभावकों के पास पर्याप्त या अपार धन होता है और वे अपने बच्चों की हर सही-गलत माँग को झट से पूरा कर देते हैं ऐसे माता-पिता या अभिभावक बच्चों के लिए *एटीएम* से ज़्यादा कुछ नहीं होते और बच्चे उनके किए हुए के प्रति विनम्रता या कृतज्ञता का भाव भी नहीं रखते। कई बार ऐसा भी होता है कि माता-पिता बच्चों को लालच देने लगते हैं कि अगर तुम क्लास में फ़र्स्ट आओगे तो तुम्हें बाइक दिलवा देंगे या नया खिलौना लाकर देंगे, आदि। माता-पिता को यह समझना होगा कि पढ़ना या अपने हिस्से का काम करना उनका फ़र्ज़ है। उसके लिए लालच किस बात का? बच्चा भी एक दिन पलटकर यही कहेगा कि पहले टॉफ़ी दिलवाओ, फिर पढ़ूँगा या फिर आपका काम करूँगा। तब वही माता-पिता अपने बच्चे को ही गलत ठहराकर उसे ही डाँटेंगे-डपटेंगे। और यही लालच जब बड़ा होकर भ्रष्टाचार के रूप में हमारे समक्ष आएगा तो हम कहेंगे कि वह क्यों रिश्वत माँग रहा है? बच्चों को जुड़ाव महसूस होने की स्थिति में उसका मन प्रसन्न रहता है और उसके मन की प्रसन्नता उसे पढ़ने-लिखने में मदद करती है। सकारात्मक और अनुकूल वातावरण कक्षा, शाला के भीतर भी होता है और मन के भीतर भी। हम अकसर स्वयं को स्कूल और शाला तक ही सीमित रखते हैं। मन की यह प्रसन्नता बच्चे के मानसिक स्वास्थ्य के लिए कारगर होती है और अनिवार्य भी।

बच्चों का मित्र होना

बच्चों से जुड़ाव तब संभव है जब माता-पिता या अभिभावक बच्चों के मित्र बनते हैं, महज़ *इंस्ट्रक्टर* नहीं। यहाँ यह समझना भी ज़रूरी है कि मित्र होने का अर्थ मर्यादाओं को लाँघना नहीं है। वह सम्मानजनक रिश्ता तो कायम रहना ही चाहिए। अनेक बार ऐसा होता है कि बच्चे अपने माता-पिता से इतना डरते हैं कि वे सही बात भी उन्हें नहीं बता पाते। बच्चे अपने मन की बात आपसे साझा कर सकें यह भी उनके मानसिक स्वास्थ्य के लिए ज़रूरी है। ऐसा कई दृष्टियों से भी

ज़रूरी है। बच्चे अपनी खुशी, दुख, रोष, खीझ या जो भी वे महसूस करते हैं उसे किसी के साथ बाँटना या साझा करना चाहते हैं और जब मन के भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो पाती तब धीरे-धीरे क्रोध, अवसाद और कुंठाएँ जन्म लेने लगती हैं। इस स्थिति में बच्चा या तो आक्रामक हो जाता है या फिर चुप। स्कूल में शिक्षक के पास इतना समय नहीं है, वह मित्र भी नहीं है कि वह हर बच्चे की मन की बात सुन सके, उन्हें अपना पाठ्यक्रम जो पूरा करना है। घर में माता-पिता या अभिभावक के पास समय नहीं है या वे मित्र नहीं हैं कि अपने बच्चे की बात सुन सकें और वह भी धैर्य और विश्वास के साथ। तो बच्चा अपने मन की बात किससे कहे? सात साल का अभिषेक कुछ समय से स्कूल जाते समय रोता है और कहता है कि मैं स्कूल नहीं जाऊँगा। मेरे पेट में दर्द हो रहा है। माता-पिता को लगता है कि अभिषेक नाटक कर रहा है। स्कूल न जाने के सौ बहाने बना रहा है। लेकिन माता-पिता हैं कि ज़बरदस्ती उसे स्कूल भेज देते हैं। धीरे-धीरे अभिषेक चुप होता जाता है और चुपचाप घर से स्कूल और स्कूल से घर का रास्ता नापता है। एक दिन अभिषेक स्कूल के बाहर पेड़ के नीचे रो रहा था। उसके पड़ोस में रहने वाली दादीजी ने देखा तो पूछा, "अरे बेटा। तुम अभिषेक ही हो न? गौतम जी के बेटे? तुम रो क्यों रहे हो?" पहले तो अभिषेक ने कोई जवाब न दिया, लेकिन बहुत पूछने पर सारी बात बता दी कि उसकी क्लास और स्कूल के बाकी बच्चे उसके मोटे चश्मे की वजह से उसे छेड़ते हैं और 'चश्मीश' कहकर उसे चिढ़ाते हैं। दादीजी ने पूछा, "अपनी टीचर और मम्मी-पापा को इसके बारे में बताया?" अभिषेक ने सिर हिलाकर बड़ा-सा 'ना' कहा। दादीजी का अगला हैरानी भरा सवाल "क्यों?" अभिषेक ने सिर झुकाकर कहा, "डर लगता है।" दादीजी जैसे-तैसे उसे घर लाईं और उसके माता-पिता को सारी बात बताई। उनके पास कहने को कुछ नहीं था, बस प्यार से अभिषेक के सिर पर हाथ फ़ेरा, उसे प्यार से चूमा और गले से लगा लिया। इसके बाद सिर्फ़ आँसू ही थे — दोनों तरफ से। माता-पिता को बड़ा सदमा लगा कि उनका बच्चा कितने दिनों से यह पीड़ा अकेले ही झेल रहा है। पछतावा भी हुआ कि उन्होंने अपने बच्चे के साथ वह रिश्ता ही नहीं बनाया कि वह उनसे अपने दिल की बात कह सके। जो बात माता-पिता या अभिभावकों के लिए ज़रूरी है वह बात शिक्षकों के लिए भी ज़रूरी है। बच्चों के साथ मित्रवत व्यवहार करने से वे 'खुलकर' सामने आते हैं। उनके मन में कई सवाल होते हैं, कई तरह की उलझनें होती हैं और कई तरह की अनिर्णयात्मक स्थिति। अगर ऐसे में बच्चे खुलकर, पूरी ईमानदारी के साथ अपने माता-पिता या अभिभावकों से सही बात कह देते हैं तो बच्चों के मन-मस्तिष्क पर जो कई गुना भार, दबाव या चिंताएँ होती हैं, वे कम हो जाती हैं। वे अपने जीवन की हर कठिन से कठिन स्थिति का भी सामना कर लेते हैं, क्योंकि उन्हें मालूम है कि कोई है जो उनके साथ है। यही तो शिक्षा है — जीवन को सही तरह से जीना और सही निर्णय लेना।

बच्चों का रोल मॉडल होना

अकसर माता-पिता या अभिभावक यह शिकायत करते हुए देखे जा सकते हैं कि उनका बच्चा बहुत गुस्सैल है। रूबीना बता रही थीं कि उनकी बेटी इकरा बात-बात पर नाराज़ हो जाती है। चीज़ों को उठाकर

फेंकती है। एक दिन तोरई की सब्ज़ी दी खाने को तो उसने खाने की प्लेट ही फ़ेंक दी। कहने लगी, "कितनी बार आपको कहा है कि मुझे तोरई अच्छी नहीं लगती। आप फिर तोरई दे देते हो। आप ही खाओ यह सड़ा हुआ-सा खाना। मुझे राजमा ही खाना है।" और कहकर औंधे मुँह बिस्तर पर पड़ गई। माँ का कलेजा बेटी को भूखा कैसे सोने दे? थक-हारकर उसके लिए बाज़ार से राजमा मँगवा दिए, तब जाकर इकरा ने खाना खाया। अब रोज़-रोज़ तो राजमा बन नहीं सकता। फिर भोजन पौष्टिक भी तो होना चाहिए। गलती इकरा की नहीं है उसकी परवरिश की है। इकरा बचपन से यही देखती आई है कि उसके पिता को कद्दू पसंद नहीं है, तो घर में कद्दू बनता ही नहीं है। यही देख-देखकर इकरा भी नाक-भौं सिकोड़ना और गुस्सा करना भी सीख गई है। जब पिता ही गुस्सा करते हों तो उनके बच्चे से गुस्सा न करने की बात की अपेक्षा कैसे की जा सकती है? माता-पिता अपने बच्चे को जैसा देखना चाहते हैं, उन्हें स्वयं ही वैसा बनना होगा — अपने बच्चे का रोल मॉडल।

एक तरफ तो माता-पिता बच्चे में धैर्य और करुणा चाहते हैं, लेकिन स्वयं ही अधीर और कठोर हैं तो वे बच्चों में ये गुण विकसित नहीं कर सकेंगे। बच्चे अवलोकन और देखकर सीखते हैं। उनके माता-पिता जैसा व्यवहार या गुण प्रकट करते हैं बच्चे भी वैसा करना सीख जाते हैं। यदि आज बच्चे का गुस्सा किसी दूसरे पर निकल रहा और माता-पिता उसका आनंद लेते हैं तो कुछ सालों बाद उसका गुस्सा माता-पिता पर निकलना शुरू हो जाएगा। माता-पिता या अभिभावक में ही यदि धैर्य, साहस नहीं है, वे बात-बात पर चिंतित हो जाते हैं, मुसीबतों का सामना करने से पहले ही उनका पसीना छूटने लगता है, वे चीखने लगते हैं, कहने लगते हैं — हाय, अब क्या होगा, तो ऐसे माता-पिता या अभिभावकों के बच्चों में साहस कहाँ से आएगा? वे धैर्यवान कैसे बनेंगे? उन्हें विपरीत परिस्थितियों से निबटना कैसे आएगा और उन्हें क्रोध कैसे नहीं आएगा? जो बच्चे चिंता, अवसाद, आक्रामकता आदि से जूझते हैं, वे जीवन में कुछ बेहतर कर नहीं पाते। माता-पिता बच्चों को संस्कारी बनाना चाहते हैं। उनके जीवन-कौशलों और मूल्यों का विकास करना चाहते हैं। लेकिन स्वयं माता-पिता या अभिभावकों में ये सभी गुण न हों और वे इन सबके विपरीत ही अपना व्यवहार प्रदर्शित करते हों तो बच्चे क्या सीखेंगे? इससे भी बड़ा सवाल यह है, वे ये सब क्यों सीखेंगे? मूल्यों की शिक्षा नहीं दी जा सकती, वे केवल ग्रहण की जाती है, उन्हें आत्मसात् किया जाता है। जो मूल्य माता-पिता बच्चों में विकसित करना चाहते हैं उन मूल्यों से संबंधित व्यवहार उन्हें स्वयं प्रदर्शित करना होगा। यदि वे बच्चों को ईमानदारी का पाठ पढ़ाना चाहते हैं, लेकिन स्वयं बेइमान हैं तो ईमानदारी कहाँ से आएगी? इसलिए ज़रूरी है कि माता-पिता या अभिभावक स्वयं में बदलाव लाएँ।

बच्चों के लिए खुशनुमा माहौल

बच्चों के सीखने में सकारात्मक वातावरण की मुख्य भूमिका होती है। जिस तरह माता-पिता या अभिभावक स्कूल में शिक्षा-अनुकूल वातावरण के निर्माण की चर्चा करते हैं ठीक उन्हें घर में भी वैसा ही सकारात्मक माहौल रखना होगा। कलहयुक्त माहौल

बच्चों में अनेक तरह के विकार उत्पन्न करता है। बच्चा चिंताओं से घिर जाता है और सहमा-सहमा सा रहता है। आमतौर पर कहा जाता है कि एक स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मन का निवास होता है। लेकिन एक स्वस्थ मन में ही स्वस्थ शरीर का निवास होता है। यानी सारा खेल मन का ही है। अगर हमारी विचार-प्रक्रिया नकारात्मक है और हम अवसाद और चिंताओं से घिरे रहते हैं तो यह हमारे हार्मोन के संतुलन को प्रभावित करती है। इससे रक्तदाब बढ़ता है, कमर व सिर में दर्द रहता है, नसों में तनाव आदि उत्पन्न होता है। मन के हिसाब से शरीर काम करता है, शरीर के हिसाब से मन नहीं। आप अपने जीवन में ही झाँककर देख लीजिए। अगर किसी का मन ठीक नहीं है और वह गहरी चिंता में है तो उसका काम में मन ही नहीं लगेगा। वह सारा दिन थकान का अनुभव करेगा, वह भी बिना कुछ किए। लेकिन अगर किसी का मन बहुत प्रफुल्लित है, तो उसके चेहरे पर थकान का रंचमात्र भी चिह्न नज़र नहीं आएगा। वह हँसते हुए सारे काम निबटा लेगा। बच्चों के साथ भी यही प्रक्रिया होती है। एक बात और, अगर बच्चे के सामने कलह होती है तो उसे स्नेह नहीं मिल पाएगा। ऐसे में या तो बच्चा डर जाएगा या सहम जाएगा या फिर कलह करेगा। खुशनुमा माहौल केवल घर में ही नहीं चाहिए, बल्कि तब भी चाहिए जब बच्चा माँ के गर्भ में होता है। गर्भावस्था के दौरान माँ का भोजन, उसका व्यवहार, पढ़ना-लिखना, कलात्मक कार्य, संगीत सुनना, घर का माहौल आदि सब बच्चे पर प्रभाव डालते हैं। अतः यह समझना ज़रूरी है कि परवरिश की शुरुआत बच्चे के गर्भ में आने से ही हो जाती है। गर्भावस्था के दौरान माँ का खुश रहना बहुत ज़रूरी है। घर का साफ़ रहना, कोई कलात्मक कार्य होना, सृजनात्मकता को बढ़ावा देना, अच्छे साहित्य का पढ़ा जाना, उस पर चर्चा होना, बच्चों को सवाल पूछने के लिए प्रोत्साहित करना और उनके सवालों के जवाब देना, बच्चों के पास बैठना, उनका हाथ अपने हाथ में लेकर सहलाना, उनसे दिनभर के कार्यों के बारे में बात करना, उनके दोस्तों के बारे में पूछना, अगर वे रूठ जाएँ तो उन्हें मना लेना आदि से घर के माहौल को खुशनुमा बनाया जा सकता है। यह केवल माता की ज़िम्मेदारी नहीं है, बल्कि पिता की भी है। घर के माहौल को खुशनुमा बनाने में माता-पिता के साथ अन्य सदस्यों का भी योगदान रहता है। सभी का आपस में सौहार्द्रपूर्ण व्यवहार, ज़ोर-ज़ोर से या चिल्लाकर न बोलना, यदि आपस में कोई मतभेद हो भी जाए तो उसे मिल बैठकर सुलझा लेना, सभी की सहायता के लिए तत्पर रहना आदि सभी बच्चों को सीखना होगा और अपने व्यवहार में प्रदर्शित करना होगा। यह खुशनुमा माहौल बच्चों को एक बेहतर इंसान बनने में मदद करता है। वे अपने परिवार के साथ रहते हुए यह सब सीख जाते हैं।

इस लेख से इतना तो तय है कि बच्चों की शिक्षा में माता-पिता या अभिभावकों के दायित्वों को नकारा नहीं जा सकता। स्कूली इमारत का एयरकंडीशंड होना या कक्षा का *स्मार्ट* होना — बच्चों की गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के न तो मानदंड हैं और न ही पर्याय। बच्चों की शिक्षा को सार्थक और बेहतर रूप देने के लिए ज़रूरी है परिवार और शाला में तालमेल होना, समरसता होना और बच्चे का केंद्र में होना। बच्चा

घर पर किस तरह का व्यवहार करता है उसके बारे में विद्यालयी व्यवस्था, मुख्य रूप से शिक्षकों को जानकारी होनी चाहिए और बच्चा जिस तरह से शाला में व्यवहार करता है, उसकी जानकारी माता-पिता या अभिभावकों को होनी चाहिए। परिवार हो या शाला, सभी को बच्चों से कई तरह की अपेक्षाएँ होती हैं, जिन्हें पूरा करने का बोझ उन पर डाल दिया जाता है। यह बोझ ढोते-ढोते शिक्षा के नाम पर उन्हें उस पथ पर धकेल दिया जाता है, जहाँ उन्हें कुछ भी हासिल नहीं होता। बच्चा अच्छे अंकों और प्रथम स्थान के चक्रव्यूह में ऐसा उलझता है कि उसके जीवन का सारा आनंद समाप्त हो जाता है और बचपन भी। माता-पिता या अभिभावकों का यह दायित्व बनता है कि वे बच्चों के खान-पान पर भी विशेष ध्यान दें। *जंक फ़ूड* से उन्हें दूर रखें और हरी पत्तेदार सब्ज़ियों, फलों आदि का सेवन अधिक कराएँ। पौष्टिक तत्वों की कमी से भी बच्चे पढ़ाई में दिक्कत महसूस करते हैं। माता-पिता होना और बेहतर परवरिश करना एक बहुत बड़ी तपस्या है जिसके लिए हुनर के साथ-साथ धैर्य और सही समझ की ज़रूरत होती है। बच्चों को शिक्षा का अधिकार तो मिल गया, लेकिन इस अधिकार को वे तब 'जी' पाएँगे जब उन्हें शाला के साथ-साथ माता-पिता या अभिभावकों का सहयोग भी मिले और वे बच्चों के मन को समझ पाएँ। बच्चों को अपने साथ रखते हुए ज़िंदगी और ज़िंदगी की वास्तविकताओं से परिचित कराएँ। किसी छद्म में फँसने से उन्हें बचाएँ। आखिर वे बच्चे हैं। तो उनकी शिक्षा के प्रति सभी का दायित्व तो बनता ही है।